ISSN No. : 2395-4000

15

प्रयाग-पथ

दिसम्बर - 2025

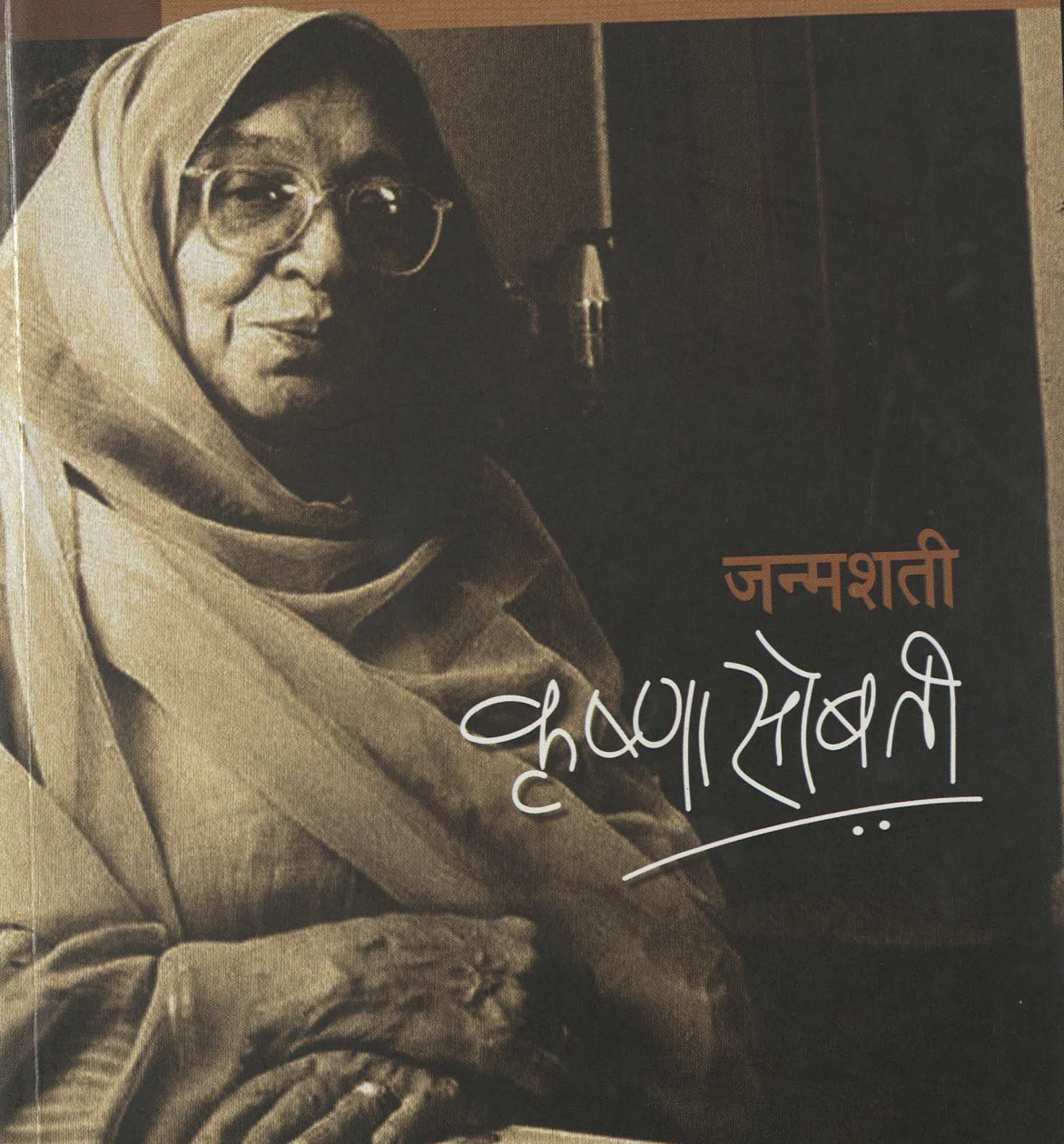

जन्मशती

कृष्णा सोबती

प्रयाण-पथ

साहित्य, कला और संस्कृति का संचयन

वर्ष : 11, संयुक्तांक : 21-22, पूर्णांक : 15, दिसम्बर : 2025

ISSN : 2395-4000

सम्पादक

हितेश कुमार सिंह

सह-सम्पादक

डॉ० नीतू सिंह

''किसी के धकेलने से कोई धावक नही होता।
खुद अपनी दौड़ दौड़ने से धावक कहलाता है।''

– कृष्णा सोबती

आवरण : अजय जेतली

अक्षर संयोजन : 'नीलकॉम', 515/258/24, सोहबतियाबाग, प्रयागराज, मो० 9935502950

मुद्रक : ग्राफिक क्रियेशन्स प्रा० लि० 164/3/50 टैगोर टाउन, प्रयागराज, 211002, उ० प्र०

मूल्य : एक प्रति : रु० 100 (व्यक्तिगत) रु० 150 (संस्थागत)

सदस्यता :
चार अंक : रु० 600.00 (डाक खर्च सहित)
आजीवन : रु० 5000.00 (पाँच हजार मात्र)

सम्पर्क :
353/183/2, टैगोर टाउन, प्रयागराज, 211002, उ० प्र०
मोबाइल : 9452790210
ई-मेल-prayagpathpatrika@gmail.com

- सम्पादन, प्रकाशन एवं प्रबन्धन पूर्णतः अवैतनिक/अव्यावसायिक
- पत्रिका में प्रकाशित विचार सम्बन्धित लेखकों के अपने हैं, सम्पादक और प्रकाशक का उससे सहमत होना अनिवार्य नहीं है।
- सम्पादक और लेखक की अनुमति के बिना प्रकाशित सामग्री के किसी भी तरह के उपयोग की अनुमति नहीं होगी।
- समस्त कानूनी विवादों का न्याय क्षेत्र इलाहाबाद उच्च न्यायालय, प्रयागराज होगा।
- स्वामी-सम्पादक-प्रकाशक-मुद्रक हितेश कुमार सिंह द्वारा 353/183/2, टैगोर टाउन प्रयागराज के लिए ग्राफिक क्रियेशन्स प्रा० लि० 164/3/50 टैगोर टाउन, प्रयागराज-211002 से प्रकाशित और मुद्रित।

अनुक्रम

- सम्पादक की ओर से.....

जीवन-प्रसंग

- कृष्णा सोबती : पल में माशा पल में रत्ती - **विभूति नारायण राय** 1
- कृष्णा सोबती, उनका उपन्यास 'दिलो दानिश' और मैं - **रूपसिंह चन्देल** 6

भारत विभाजन और कृष्णा सोबती साहित्य

- कृष्णा सोबती : भारत विभाजन, नया साहित्यिक परिदृश्य और आलोचना के नए मापदण्ड - **जगदीश्वर चतुर्वेदी** 9
- कहानीकार कृष्णा सोबती, मंटों और विभाजन - **विनोद शाही** 33
- विभाजन का जहरीला संताप और कृष्णा सोबती की रचनात्मकता - **हरियश राय** 42

उपन्यास-लोक

- 'समय सरगम' : अजनबियत की धुन और सेल्मा की सजीव उपस्थिति - **रोहिणी अग्रवाल** 48
- 'सूरजमुखी अंधेरे के' : प्रेम और साहचर्य की एक नयी व सर्वथा मौलिक पुनर्परिभाषा - **शंभु गुप्त** 60
- 'ज़िन्दगीनामा' : जिंदगी का आख्यान - **सरोज सिंह** 86
- 'यारों का यार' : कार्यालयी सच का विचारोत्तेजक रूप - **रामकली सर्राफ** 93
- 'ऐ लड़की' : स्त्री मुक्ति की मुखर आवाज - **गौरी त्रिपाठी** 102
- 'चन्ना' : कामनाओं से भरी छायादार औरतों के सुख-दुःख का आख्यान - **जनार्दन** 112
- 'डार से बिछड़ी' : पुरुष प्रधान समाज का यथार्थ - **नीतू मुकुल** 116
- 'मित्रो मरजानी' : साहस, सीमा और संवेदना का समेकन - **ममता जयंत** 121

कहानी - कृंतन

- 'बादलों के घेरे' : में नवस्त्री की प्रतिबद्ध कथाकार कृष्णा सोबती - **भरत प्रसाद** 127
- आत्म-निर्माण की कहानी - 'बादलों के घेरे' - **कुमार वीरेन्द्र** 132
- 'सिक्का बदल गया' : की स्त्री सैद्धांतिकी - **आदित्य कुमार गिरि** 136

स्मृतियां

- 'हम हशमत' : अन्य को गौरवान्वित करने का सर्जनात्मक सलीका - **कमलानंद झा** 142
- देश, दशा और दिशा : 'मार्फ़त दिल्ली' - **मिथिलेश** 153

कृष्णा सोबती : कुछ विमर्श

- कृष्णा सोबती : एक प्रेरक रचनात्मक सोहबत - **महेश दर्पण** 161
- विरोध की भाषा और राष्ट्र के हाशिए पर सोबती, प्रीतम और रेणु - **विभा सिंह चौहान** 170
- 'शब्दों के आलोक में' : अपने को तलाशती कृष्णा सोबती - **बिपिन तिवारी** 178
- 'लेखक का जनतंत्र' : अपने में मस्त कृष्णा सोबती - **शशि बांयवाला** 190

कृष्णा के मुक्तिबोध

- 'मुक्तिबोध : एक व्यक्तित्व सही की तलाश में' कृष्णा सोबती - **अजीत प्रियदर्शी** 197

'शब्दों के आलोक में' : अपने को तलाशती कृष्णा सोबती

बिपिन तिवारी

साहित्यिक आलोचना में आम तौर पर साहित्य पर खूब बहस-मुबाहिसा होते रहे हैं। विभिन्न कोणों से उसे जांचा परखा जाता रहा है। नोक-पलक पर विचार किया गया है। रचना की चूलें कहां कम कसी रह गई हैं, इस पर भी खूब मगजमारी की गई है। वैसे साहित्य के दानिश्वरों ने रचना की समय-समाज के संदर्भ में खूबियां भी कम नहीं गिनाई हैं। रचना की भीतरी परतों को परत-दर-परत व्याख्यायित किया गया है। साहित्य आलोचना का परिदृष्य इन्हीं सबसे आच्छादित रहा है। लेकिन रचनाकार के जीवन के विभिन्न मूड्स, संवेग, उद्वेग, प्रेरित करने वाली 'शक्तियां, रचना और रचनाकार की घातें-प्रतिघातें आदि पर विचार करना कमतर माना जाता रहा है। इस बात से आप भले ही असहमत हों, लेकिन साहित्य रचने वालों के जीवन की इन स्थितियों को क्या आलोचना में उसी तरह ध्यान दिया गया है जिस तरह रचनाओं के मूल्यांकन में दिखाई पड़ता है। यदि आधुनिक हिंदी साहित्य पर गौर किया जाए तो मुक्तिबोध, अज्ञेय और कृष्णा सोबती के ऐसे लेखन के बारे में कितने साहित्य के नामवरों ने न्याय किया है। इस आलेख में कृष्णा सोबती की इसी श्रेणी की किताब 'शब्दों के आलोक में' पर विभिन्न मुद्दों के संदर्भ में विचार करने का प्रयास किया जायेगा। कृष्णा सोबती इस किताब के बड़े हिस्से में अपने मन में उठने वाले विभिन्न तरह के अनुभवों, सवालों को लेकर सरवर को संबोधित करते हुए 'पत्र शैली' में गद्य लिखती हैं। इसमें हिमाचल प्रदेश के विभिन्न हिस्सों के बारीक तथ्य दर्ज करती हैं। इस दौर में उन्हें जो कुछ अनुभव हो रहा है उसे भी रेखांकित करती हैं। उस समय वह उच्च अध्ययन संस्थान में फेलोशिप पर लेखन कर रही थीं तो वहां की गतिविधियां भी इस किताब में दर्ज हैं। साथ ही किताब में अपनी साहित्यिक बिरादरी के विभिन्न लोगों के साहित्य को वह जांचती-परखती हैं। उस पर बेबाक राय व्यक्त करती हैं। कुछ अग्रज लेखकों, कवियों के बारे में श्रद्धा के साथ उनके शाब्दिक स्केच रचे हैं। इसके साथ ही किताब में आलोक भल्ला, कवियत्री अनामिका, निरंजन

देव शर्मा को दिए गये साक्षात्कार भी शामिल हैं। कृष्णा सोबती की लेखक बिरादरी का दायरा बड़ा है। कई भारतीय भाषाओं के रचनाकार उसमें शामिल हैं। हालांकि इनमें कम ही लोगों के साथ वह सृजनात्मक बेचैनियां साझा करती हैं। वह जब शब्द की सत्ता निर्मित करने वालों पर विचार करती हैं तो कई बार भारतीय भाषा के रचनाकारों की रचनाएं संदर्भ में आती हैं तो कई बार विश्व साहित्य के किसी नामवर लेखक की रचना शामिल होती है। कृष्णा सोबती बारीक नज़रों से अपने समय पर आंख गड़ाये रहती हैं। समय-काल की आहटों को सामने रखकर लेखक की हैसियत मूल्यांकित करती हैं। चूंकि यह किताब 2018 में प्रकाशित हुई है इसलिए इसका दायरा 2018 के पहले तक का है, लेकिन इसके बाद के दौर में जो भूमिकाएं कृष्णा सोबती ने निभाई हैं, वह पहले निभाई गई भूमिकाओं का ही विस्तार हैं। इसलिए इस आलेख में बाद की घटनाओं को भी संदर्भ में रखकर विभिन्न मुद्दों को समझने की कोशिश की गई है।

'शब्द की सत्ता' पर जब कृष्णा सोबती विचार करती हैं तो विभिन्न दौर में सत्ता के साथ 'शब्द सत्ता' के सम्बन्धों की विवेचना करती हैं। यदि बीसवीं सदी के आजादी के आंदोलन के दौरान के कथा साहित्य को ही ध्यान में रखा जाए तो यह बात आसानी से समझ में आ जायेगी। आजादी के आंदोलन के दौरान के कथा साहित्य में प्रेमचंद, यशपाल, सआदत हसन मंटो, राजिंदर सिंह बेदी, इस्मत चुग़ताई आदि अनेक लेखकों के नाम लिये जा सकते हैं, जिनके साहित्य में सत्ता का विरोध मुखर रूप में दिखता है। प्रेमचंद के 'गोदान' उपन्यास की स्त्री पात्र 'धनिया' को कौन भूल सकता है जो गांव के जमींदार, साहूकार के साथ थाने के दारोगा तक को खरी खोटी सुनाने से नहीं डरती। वहीं मंटो की 'टोबा टेक सिंह' कहानी का बिशन सिंह जैसा पात्र भारत-पाक विभाजन को स्वीकार नहीं करता। जबकि राजनीतिक रूप से विभाजन को स्वीकार कर लिया गया था। कहानी के अंतिम दृश्य में जहां कथा पात्र की लाश मिलती है, वह हिंदुस्तान-पाकिस्तान की सरहद है। अब आपको भरोसा दिलाने के लिए कहानी से प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। 'सूरज निकलने से पहले साकितो-सामित बिशन सिंह के हलक़ के एक फ़लक शिगाफ़ चीख निकली। इधर-उधर से कई अफ़सर दौड़े आए और उन्होंने देखा कि वह आदमी जो पंद्रह बरस तक दिन-रात अपनी टांगो पर खड़ा रहता था, औंधे मुंह लेटा है-उधर ख़ारदार तारों के पीछे हिंदुस्तान था, इधर वैसे ही तारों के पीछे पाकिस्तान; दरमियान में ज़मीन के उस टुकड़े पर जिसका कोई नाम नहीं था, टोबा टेक सिंह पड़ा था।' अब आप कृष्णा सोबती के 'शब्दों के आलोक में' किताब के एक हिस्से पर गौर फरमाएं। 'रचनाकार देशव्यापी घटनाचक्र की ऊपरी परतों को भेदकर, उघाड़कर उन गहरी तहों में प्रवेश करता है जिसे हम जनमानस कहते हैं। इसी जनमानस के नाम पर इतिहास को फिर-फिर गढ़ना-घड़ना उसकी मनचाही विवेचना करना-उसके रूढ़िगत नए-पुराने स्वरूपों को उलटना-पुलटना, राजनीति ने इस किस्म की कई योजनाएं बनाई-फैलाई हैं-हम सभी उससे वाकिफ़ हैं। ...मंटो 'टोबा टेक सिंह' में लिखते हैं-जो किया गया है-जो हो गया है, उसे खोल देते हैं। राकेश 'मलबे का मालिक'-अज्ञेय 'शरणार्थी'-यशपाल 'झूठा सच'-बलवन्त सिंह 'काले कोस'-भीष्म साहनी 'तमस'। -स्मृति 'जो कभी तत्काल थी'-वह पन्नों पर फैल रही थी। ...' साहित्य सत्ता द्वारा प्रचारित किये गये सभी तरह के षड्यंत्रों का सच बयान कर देता है। इतिहास के पुराने पन्ने पलटे जाएं तो पता चलेगा कि कितने आक्रामक विचारों के साथ, इस्लामिक देश के नाम पर पाकिस्तान बनाया गया था, लेकिन हश्र हम सबके सामने है। इस्लामिक मुल्क में इस्लाम मानने वालों की स्थिति कैसी है इसका भी सच अब किसी से छिपा नहीं है। बंटवारे के बाद उर्दू अफ़सानानिगार सआदत हसन मंटो पाकिस्तान चले गये थे। उन्होंने कुछ ऐसे ही विचार अपनी मौत से कुछ अरसे पहले 'दो गड्ढे' स्केच में लिखा था। 'मुझे आप एक अफसाना निगार की हैसियत से जानते हैं और अदालतें एक फुहश-निगार की

हैसियत से। सरकार मुझे कभी कम्युनिस्ट कहती है और कभी मुल्क का सबसे बड़ा अदीब। कभी मेरे लिए रोजी के दरवाजे बंद किए जाते हैं और कभी खोले जाते हैं। कभी मुझे गैर जरूरी इंसान करार देकर, 'मकान बाहर' का हुक्म दिया जाता है। मैं पहले भी सोचता था और अब भी सोचता हूँ कि मैं क्या हूँ? और इस मुल्क में जिसे दुनिया की सबसे बड़ी इस्लामी सल्तनत कहा जाता है, मेरा क्या मुकाम है?...यही वजह है कि मेरी रूह बेचैन रहती है, यही वजह है कि मैं कभी पागलखाने में और कभी अस्पताल में होता हूँ।' इस स्केच से उनकी मानसिक स्थिति का कुछ-कुछ एहसास जरूर हो जाता है। उस दौर के अधिकांश अदीबों का साहित्य इसी तरह के दर्द को बयान करता है।

कृष्णा सोबती के विचारकों का फलक बहुत व्यापक है। वह जब विभाजन केन्द्रित साहित्य पर विचार करती हैं तो उनके सन्दर्भ में भारत और पाकिस्तान की उर्दू, हिंदी, पंजाबी में लिखा गया साहित्य होता है। इस साहित्य में विभाजन को कहीं भी सही नहीं माना गया है। उल्टे विभाजन के बाद के हालात पर सवाल ही खड़े किये गये हैं। इन सवालों के पीछे है दोनों मुल्कों की जनता की पीड़ा, जो हुक्मरानों के एक निर्णय से झेलने को मजबूर हुई। धर्म, भाषा के आधार पर जितने भी मुल्क बने हैं वहां की स्थिति कमोबेश पाकिस्तान जैसी ही है। पाकिस्तान तो एक बंटवारे को और झेल चुका है, लेकिन भारत में विभिन्न समुदायों के प्रति सत्ता द्वारा पैदा की जा रही, बढ़ाई जा रही नफरत भारत में और बंटवारे की आशंका पैदा करती है। कृष्णा सोबती सवाल करती हैं कि क्या हमारे पुरखे जैसे बाबा फरीद, बुल्ले शाह, नानक, कबीर, तुलसी बंट सकते हैं? दरअसल यह सभी 'शब्द की सत्ता' के नुमाइंदे रहे हैं। समाज की विभिन्न लड़ियों को सत्ता के प्रति कड़ा रुख रखते हुए आपस में जोड़ने की वकालत इन पुरखों ने की है। आज के रचनाकार इन्हीं की पौध हैं। ऐसे में हमारा धर्म है कि हम अपने पुरखों के रास्ते पर चलते हुए वर्तमान सत्ता की साजिशों पर लगाम लगाने के लिए सच के साथ खड़े हों। सच लिखें और अपनी कथनी-करनी में दोगलापन न आने दें। इस कसौटी पर यदि कृष्णा सोबती को कसा जाए तो पता चलता है कि नर्मदा बचाओ आंदोलन में, समाज में बढ़ रही नफरत के खिलाफ अवॉर्ड वापसी के आंदोलन में उनकी भूमिका प्रमुख रही है। नर्मदा बचाओ आंदोलन के समय उन्होंने नागरिकों की तरफ से एक लंबी कविता राष्ट्रपति को संबोधित करते हुए लिखी थी। उसकी कुछ पंक्तियां आपको जरूर पढ़नी चाहिए-

'महामहिम,
राष्ट्र की कोटि-कोटि सन्तानों के पुरोधा
हम नर्मदा माई के किनारे के आदिवासी
आपसे इतना ही अर्ज़ करना चाहते हैं कि-
हम नर्मदा माई के अन्न-जल से पले-बढ़े बच्चे
अपनी धरती से उसकी छांह से
हमेशा-हमेशा के लिए विस्थापित किए जा रहे हैं
महामहिम, अपनी अन्तिम पुकार लेकर हम आपके सामने खड़े हैं
हमें हमारी पुण्यवती धरती से न उखाड़िए...
महामहिम,
हम भी भारत देश की सन्तानें हैं
हम भी लोकतन्त्र में भागीदार हैं

हमसे, हमारे होने को ही क्यों
समेटा जा रहा है...
सच है हमारी आंखें अक्सर नहीं पहचानतीं
पर वह जंगलों की जीवित भाषा जानती हैं
जानवर, पाखी, पत्ते, झाड़-झाड़ियां, टहनियां,
पहाड़, पठार, झरने, नद, नदियों से संवाद करना जानती हैं...'

जब इस तरह की चिट्ठी कृष्णा सोबती ने लिखी थी तो इसे लेकर राजनैतिक हलकों में भयानक प्रतिक्रिया हुई थी। इसी तरह अवॉर्ड वापसी के समय पूरे आन्दोलन को लेकर राजनीतिक लोगों ने क्या कुछ नहीं कहा। यहां तक कि सत्ता के साथ नाभिनालबद्ध लेखकों ने भी अवॉर्ड वापसी को ड्रामा करार दिया था। साहित्य अकादमी के पूर्व अध्यक्ष विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने इसे मार्क्सवादियों द्वारा आयोजित बताया। साथ में यह भी कहा कि अॅवार्ड वापसी आंदोलन पूरी तरह राजनीति से प्रेरित है। वैश्विक स्तर पर ह्यूमन राइटस वाच 2018 की रिपोर्ट में भी भारत में बढ़ रही राजनीति प्रेरित हिंसा को नोटिस किया गया था। इस रिपोर्ट में भारत के बारे में वही बातें कही गई थीं, जो लेखक आंदोलन के दौरान कह रहे थे। इस मुद्दे पर कृष्णा सोबती ने गिरिधर राठी से साक्षात्कार में कहा था- ''समूचे राष्ट्र के बौद्धिक संस्थान साहित्य अकादमी ने इधर के वर्षों में कुछ ऐसा किया जो दशकों-दशकों तक भारतीय लेखक वर्ग को याद दिलाता रहेगा कि तंत्र की तनातनी और बुद्धिजीवी समाज को अपनी राजनीतिक नारेबाजी के लिए इस्तेमाल करना दरअसल लोकतांत्रिक मूल्यों को जख्मी करने वाला है। ...'' कहने का तात्पर्य यह है कि कृष्णा सोबती के भीतर 'शब्द सत्ता' के प्रति कर्तव्य का बोध किसी खास समय में दिखाई नहीं देता। वह सत्ता को एक चरित्र के रूप में देखती हैं जो कि 'शब्द सत्ता' के हमेशा विरोध में रहती है। पिछले एक दशक में सत्ता का जो चरित्र हमारे सामने आया है वह पहले की तुलना में भयानक है। ऐसे में लेखक बिरादरी का लेखक के हक के लिए खड़ा होना लाजिमी है।

कृष्णा सोबती साहित्य से लेकर जीवन तक में असहमत स्वरों का बखूबी सम्मान करती हैं। रचनात्मक साहित्य के स्तर पर भी वह पात्र को रचना में विकसित होने का पूरा मौका देती हैं। कई बार पात्र की असहमतियां भी रचना में उल्लिखित करती हैं। पात्र स्थितियों के अनुसार अपना चरित्र निर्धारित करता है। उनके पात्रों की अपनी निजता है। लेखक उस निजता का पूरा सम्मान करता है। 'जिन्दगीनामा' उपन्यास में शाहनी के घर में काम करने वाली रब्बो जो कि शाहजी को खाई में गिरने से बचाती है। उसके गीत शाहजी को बेहद पसंद हैं। पहले तो शाहनी, रब्बो को हवेली में रखने से इनकार करती है, लेकिन जब शाहजी के बारे में सोचते हुए विचार करती है तो खुद रब्बो को लाने उसके घर पहुंच जाती है। यहां परिस्थितियां पात्र की मनःस्थिति को बदल देती हैं। रचनाकार यहां तटस्थ दिखता है। क्या समाज में इस तरह की स्थितियां नहीं घटित होती हैं। ठीक यही स्वर देश-समाज को लेकर कृष्णा सोबती का रहा है। वह एक नहीं, कई बार सत्ता से टकराई हैं लेकिन अपनी पक्षधरता स्पष्ट रखी है। 'शब्द की सत्ता' राजनीतिक सत्ता के समक्ष झुकी नहीं है। नहीं तो बाबरी मस्जिद विध्वंस, नर्मदा बचाओ आंदोलन, गुजरात दंगे, पुरस्कार वापसी आदि के समय वह खुलकर नागरिक दायित्व को बखूबी निभा नहीं पातीं। '...लेखक होना जितना आसान दीखता है, वह उतना आसान है नहीं। लेखक एक बड़ी दुनिया को अपने में समेटे रहता है। अपनी

एक सीमित इकाई में एक छोटी अंतरंग दुनिया को बड़ी के पक्ष में खड़ा करता है। अपने होने के बावजूद अपने से एक ऐसी तालीम जगाता है जो उसे एक बड़ा परिप्रेक्ष्य देती है। उसे अपने से बाहर फैले संसार के यथार्थ से जोड़ती है। उसे समय और काल से जोड़ देती है। किसी के दबाव में नहीं स्वेच्छा से। ...' आज ऐसे कम लेखक हैं जो सत्ता से विभिन्न मसलों पर सवाल करते हैं। अपने विरोध को रचनात्मक या आलोचनात्मक अभिव्यक्ति देते हैं। आज तो आस्वादपरक साहित्य को श्रेष्ठ और उनके लेखकों को बड़े सम्मानों से नवाजा जा रहा है। ऐसे में शब्द सत्ता की अहमियत कम लेखकों में देखने को मिलती है।

कृष्णा सोबती सृजन के दौरान लेखक के मन में उगने वाले विभिन्न तरह के भावों के बारे में विचार करते हुए कहती हैं कि लेखक अपनी रचना को बहुत खासुलखास, निजी स्तर पर जीता है। कथा और उसके पात्रों की अपनी निजता होती है। लेखक एक सारथी की भूमिका में रहते हुए रचना को सृजित करता है। यदि उनकी ही रचनाओं में से किसी एक को केंद्र में रखकर विचार किया जाए तो इस सवाल की अनेक तहें खुलती जाती हैं। 'ऐ लड़की' कृष्णा सोबती का एक लघु उपन्यास है। इस उपन्यास में एक पात्र जो कुछ कहती है, उससे आपको समझ में आ जायेगा कि लेखक इस पात्र का सृजन कैसे करता है? कहां उसे वह पात्र मिली थी? आदि। 'शब्दों के आलोक में' किताब में वह अपने कई उपन्यासों की रचना प्रक्रिया पर भी विचार करती हैं। 'मित्रो मरजानी' के पात्र मित्रो के बारे में कहती हैं कि मुझे वह राजस्थान की एक यात्रा में मिली थी। 'डूँगर के पास, सिर पर बोझा उठाए वह जीती-जागती काया हरियाली क्यारी सी दीखी थी। आँखों में ललक, आँचल तले उभार, लहँगे और ओढ़नी में मढ़ा हुआ गेहुँआ गदराया बदन-हाड़-मांस की अनोखी देह, रुपहले धूपिया पानी में कसी हुई। तनिक गर्दन घूमी। ठेकेदार को आते देखा तो काँकरी मार दी। हँस-हँसकर कहा-इधर तो देखना मति ठेकेदारजी! लहँगड़ूँ की माँद में अट गए तो गए काम से। ...' बहुत समय पहले देखी गई छवि लेखक के दिमाग के किसी कोने में अटक जाती है। सृजन के क्षणों में वह अचानक कौंधती है और उपन्यास का केन्द्रीय पात्र बन जाती है। ऐसी ही पात्र से वह सब कुछ कहलवाया जा सकता है जो 'ऐ लड़की' की पात्र कहती है। लेखक इस पात्र का भोक्ता भी है और स्रष्टा भी। आम जीवन में जो अनुभव होते हैं वह ठीक वैसे रचना का हिस्सा नहीं बन जाते, बहुत कुछ काट-छांट, जोड़-घटाव के बाद ही अभिव्यक्त होते हैं। रचना में उस पात्र का जो वैभव अभिव्यक्त हुआ है वह देखे गये अनुभव का ही विस्तार है। लेकिन प्रत्यक्ष अनुभव और सृजित पात्र दोनों को अपने शरीर की सुंदरता पर गर्व है। अब ज़रा बीसवीं सदी के नारीवाद को पढ़िए तो बहुत से विचार आपको वहां से भी जुड़े मित्रो में देखने को मिलेंगे। लेखक सृजन के क्षणों में बहुत कुछ घोल-घालकर पात्र का सृजन करता है। मित्रो को लेकर साहित्यिक हलके में जिस तरह की बहस खड़ी हुई वह लेखक को आश्वस्त करती है। कृष्णा सोबती के खाते में ऐसी कई रचनाएं आती हैं। कृष्णा जी की रचना-यात्रा में निरन्तर विकास दिखाई पड़ता है। वह रचना की मुकम्मल तैयारी करती हैं। कथानक से जुड़ने के लिए लंबी-लंबी यात्राएं करती हैं। छोटे-छोटे विवरण जुटाती हैं। मसलन वहां की बोली-बानी, लहज़ा, हंसी-ठिठोली, लोकगीत, लोक-परम्पराएं आदि। फिर इन सबको निजी स्तर पर जीती हैं। रचना की चिनाई का नम्बर सबसे अंत में आता है। इस प्रक्रिया में पात्रों के साथ उनका गहरा अपनापा बन जाता है। अनामिका जी से बातचीत में कहती हैं-...'' एक स्तर पर रचना और रचनाकार के सम्बन्ध बाक़ायदा प्रतिद्वन्द्वी के तेवरों की तरह तीते होते हैं और रागात्मक सम्बन्धों की तरह हद तक गहरे भी। इन दोनों की टकराहट और निकटता ही विपरीत दिशाओं से एक-दूसरे को चुनौती देते हैं। ...'' रचना इसी टकराहट से पैदा होती है। यदि कोई रचनाकार अपनी मर्जी से पात्रों से कुछ भी कहलवाना चाहता है तो रचना बिगड़ जाती है। कृष्णा जी 'ज़िन्दगीनामा' उपन्यास रचते समय का एक किस्सा बयान करती हैं। कहती हैं-' उपन्यास पूरा होने के कुछ दिन बाद एक सुबह खयाल आया

कि खेत तो बेटों में बंटते हैं, बेटियों में नहीं। यहीं से एक बड़े-बूढ़ों के मुंह सुनी बात उपन्यास में जुड़ गई। "हर पुत्र अपने पिता का अवतार होता है।" यह पंक्ति रचना पूरी होने के बाद जोड़ी गई। इसका मतलब है कि रचना अपना स्वरूप धीरे-धीरे ग्रहण करती है। ..." अंत में क्या कुछ रचना बनेगी यह रचनाकार को भी नहीं पता। ठीक वैसे ही रचनाकार यदि अपनी विचारधारा के हिसाब से कथा और पात्रों को संचालित करने लगता है तो रचना का स्वाभाविक विकास नहीं हो पाता।

उर्दू-हिंदी में मेल की संभावनाएं
'न ठेठ हिंदी न खालिस उर्दू
ज़बान गोया मिली-जुली हो
अलग रहे दूध से न मिसरी
डली-डली दूध से घुली हो।'

विभाजन के बाद हिंदी-उर्दू को लेकर दीवारें खड़ी की गईं। भाषा को धर्म से जोड़कर साम्प्रदायिक रंग देने की भी कोशिशें दोनों तरफ से हुईं। ऐसे में हमारे साझेपन को न केवल इतिहास से बल्कि स्मृति से भी मिटाने के लिए प्रोपेगेण्डा चलाए गये। दोनों भाषाओं के लेखकों ने इस प्रोपेगेण्डा का प्रतिकार रचनात्मक स्तर पर किया और समाज में साझेपन की बुनियाद को बार-बार रेखांकित किया। इतिहास के पन्ने पलटें तो पता चलता है कि गांधी की हत्या के बाद पाकिस्तान रेडियो से जो प्रसारण किया गया उसमें एनाउंसर की सिसकियों वाली आवाज को लाखों लोगों ने सुना। क्या गांधी हिंदू होने के नाते सिर्फ भारत के थे? नहीं, ऐसा बिल्कुल नहीं था। मुल्क बंट जाने से सब कुछ नहीं बंट जाता।

अदीबों की बिरादरी की कृष्णा सोबती की अधिकतम रचनाएं इस साझेपन की कहानी बयान करती हैं। 'जिन्दगीनामा' उपन्यास के हिंदू पात्र उर्दू और पंजाबी भाषा धड़ल्ले से बोलते हैं। वैसे ही मुस्लिम पात्र उर्दू और पंजाबी बोलते हैं। भाषा का सम्बन्ध भूगोल से निर्धारित होता है, धर्म से नहीं। यदि ऐसा होता तो हिंदी को गौरवान्वित मुसलमान नहीं करते। ऐसे तथ्य हमें साहित्य के पुरखे ही देकर गये है।

कृष्णा सोबती 'फिराक और निराला' 'शीर्षक लेख में लिखती हैं-...' भाषायी निजता में अपनी-अपनी लिपि को सुरक्षित रखते हुए हिंदी और उर्दू काव्य-संस्कार अपने भाव, शैली और आध्यात्मिक प्रतीकों में अलग हैं और इस अलग से अलग इन दोनों में ऐसा भी बहुत कुछ है जो एक सा है। राजनीतिक पेचीदगियों और विरोधाभासों में से निकलकर किसी एक बिन्दु पर दोनों भाषाएं एक-दूसरे की पहचान करने को उत्सुक हैं। ... अगर इन दोनों भाषाओं के साहित्य को देखें तो बहुत सी नजदीकियां और दिखाई देती हैं। परवीन शाकिर की शायरी, ज़ाहिदा हिना की कविताएं, इंतज़ार हुसैन का कथा साहित्य इन्हीं नजदीकियों की बात करता है। *फ़हमीदा रियाज़* की एक प्रसिद्ध नज्म़ है-' *तुम बिलकुल हम जैसे निकले/अब तक कहां छुपे थे भाई/वह मूरखता, वह धामड़पन/जिसमें हमने सदी गंवाई/आखरि पहुंची द्वार तुम्हारे/अरे बधाई अरे बधाई...।* ऐसे ही परवीन शाकिर की शायरी पढ़ते हुए यदि आपको बताया न जाए तो पाठक को रचना से रचनाकार के देश का अनुमान नहीं लगता। यानी साहित्य समाज और राजनीति के जिन सवालों को उठाता है, कमोबेश वे एक जैसे हैं। इस कारण दोनों भाषाओं के बीच एक नजदीकी दिखाई पड़ती है। भारत और पाकिस्तान में इतना कुछ साझा है कि उसे अलगाना संभव नहीं है। फैज़ अहमद फैज़ जितना मकबूल पाकिस्तान

में हैं उससे कहीं ज्यादा भारत में हैं। इसी तरह की मकबूलियत सज्जाद ज़हीर की है। हिंदी और उर्दू की बुनियाद बहुत गहरी है, वह मुल्क बंट जाने से मिटने वाली नहीं है। उर्दू में रतननाथ सरशार, ब्रजनारायण चकबस्त, रामलाल भाटिया 'फ़िक्र तौसवीं' आदि रचनाकार हिंदू होते हुए उर्दू में साहित्य रच रहे थे। ऐसे ही अमीर खुसरो, मलिक मुहम्मद जायसी, इब्राहीम 'शरीफ, बदीउज्जमां जैसे मुस्लिम रचनाकारों ने हिंदी में लेखन किया है। कृष्णा सोबती इस साझेपन को गहराई से महसूस करती हैं। लिखती हैं-'...हिन्दी-उर्दू के भाषायी यथार्थ और दोनों ओर छिपी एक-दूसरे के लिए कशिश और नज़दीकी बहुत सी विधाओं में तरंगित हो रही है। हम वह पुराने प्रसंग भूले नहीं हैं जब राजनीतिक कारणों से अलग-अलग भाषायी खेमों ने इन दोनों के बीच बाक़ायदा वैर-भाव और अन्तर उपजाया। इसे साम्प्रदायिकता के प्रतिकूल से परितुष्ट किया। वैमनस्य उभारा। इन दोनों भाषाओं की मिल्कियतों पर अलग-अलग पताकाएं फहराईं। जैसे आमने-सामने के टक्कर के सिवा इन्हें एक-दूसरे से कुछ लेना-देना न हो ! असंगत नहीं यह याद कर लेना कि दोनो भाषाओं के रसायन अपने-अपने रंग और ढंग में यहीं-इसी देश की ज़मीन में पनपे हैं। यह सिर्फ नारा नहीं कि इन दोनों भाषाओं ने एक-दूसरे से बहुत कुछ खींचा और अपनी-अपनी तर्ज से उसे अपनाकर अपनी भाषायी जड़ों को गहरे तक सींचा। ...' इस तरह उर्दू-हिंदी के बीच किये जा रहे बंटवारे की कहानी का पर्दा बेनक़ाब हो जाता है। भाषा को धर्म से जोड़ने की बहुत कोशिशों के बाद भी आमजन इसे स्वीकार नहीं करता। साहित्य की यही उपलब्धि है।

वैसे तो साहित्य में यह सामान्य तौर से कहा जाता है कि लेखक अपने समय से आगे देखता है। सूक्ति के रूप में आप सुनते हैं-जहां न पहुंचे रवि/वहां पहुंचे कवि। इसे आप कृष्णा सोबती के जीवन और साहित्य पर लागू करके देखें तो बहुत कुछ नया जानने-समझने को मिलेगा। 'शब्दों के आलोक में' किताब में कई रचनाओं के बारे में बहुत संक्षेप में नहीं बल्कि रचना के मर्म तक पहुंचने के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि के रूप में उन्होंने लिखा है। इसको पढ़ते हुए आप उस दौर में जो कुछ घट रहा था उसे भी आसानी से देख समझ सकते हैं। एक तरह से यह रचनाएं अपने समय का प्रत्याख्यान भी रचती हैं। भारत-पाक विभाजन को समझने के लिए 'जिन्दगीनामा' उपन्यास को एक ऐतिहासिक टेक्स्ट की तरह से पढ़ा जा सकता है। माफ कीजिएगा, यहां आपको इतिहास लेखन की पद्धति देखने को नहीं मिलेगी बल्कि आम आदमी की जिंदगी की दुश्वारियां, समाज के साझेपन का तानाबाना, भाषा का मिला-जुला रूप आदि बहुत कुछ देखने को मिलता है। वहीं 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान' रचना में वह एक लंबी यात्रा करती हैं। इस यात्रा के विभिन्न पड़ावों में होने वाले बदलावों-सामाजिक, राजनीतिक-की गहराई से विवेचना भी करती हैं। उनकी आंख समाज में किए जा रहे बदलावों के पीछे छिपी मंशा को भांप लेती है। 2002 में गुजरात में जो कुछ हुआ उसे लेकर कृष्णा सोबती जी बेहद दुःखी हुई। भारत के गुजरात से उनका गहरा लगाव रहा है। उनकी विक्षुब्धता को आप पढ़ सकते हैं। ''आज के गुजरात परिदृश्य को देखकर मैं विक्षुब्ध हूं। मार-काट, आगजनी, बलात्कार, जिन्दा नागरिकों को आग में भूनना-हमारे पिछले पचास वर्षों पर कलंक है। ...भारत जैसे बहुलतावादी धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्र में राजनीतिक विवेक को बलाए-ताक रखकर ऐसे प्रसंगों की पुनरावृत्ति अक्षम्य है। ...'' ऐसे ही कई और मौके आए हैं जब वह इसी तरह की लेखकीय गरिमा के साथ खड़ी दिखाई पड़ती हैं। लिखती हैं'...दोस्तो राजनीतिक दल कोई भी हो, हम हिंसा के अध्यात्म के तहत धर्म-वर्ग और जाति के नाम पर सामाजिक दूरियों को ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध करने की चेष्टा को गलत समझते हैं।

मानवीय अस्मिता में यह सीधा हस्तक्षेप है....' इन उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि कृष्णा सोबती के लिए लेखकीय सरोकार क्या हैं? लेखक सिर्फ आनंद देने वाली रचना का मात्र सर्जक नहीं होता अपितु समाज में सत्ता द्वारा बर्बरता का जो षड्यंत्र किया जाता है उसका प्रतिरोध करने वाला कार्यकर्ता भी होता है। एक तरह से वह समाज और राजनीति के लिए टॉर्च बियरर होता है। कृष्णा सोबती नागरिक सत्ता को सीमित करने के अधिकतम राजनीतिक षड्यंत्रों के प्रतिरोध में खड़ी हुई हैं। कमाल अहमद के साथ बातचीत में कहती हैं- "लोकतांत्रिक भारत का नागरिक होने के नाते मैं अपने होने में न सिर्फ हिन्दू हूं-न मुसलमान, न ईसाई, न सिक्ख और न पारसी। मुझमें, मेरे अस्तित्व और मेरी चेतना से जुड़े हैं लोकतांत्रिक देश के मूल्य और सिद्धान्त भी जो मुझमें भारतीय होने का अहसास जगाते हैं। एक स्वस्थ समाज की पहचान उसके इतिहास और संस्कृति से होती है। ..." इसीलिए वह लेखकों की सुरक्षा, उनकी हैसियत को लेकर बेहद सतर्क रही हैं। कृष्णा सोबती को जब ज्ञानपीठ पुरस्कार मिला तो उन्होंने रज़ा फाउण्डेशन को 11 लाख का चेक दिया। इसके पहले उन्होंने रज़ा फाउण्डेशन को 2014 में एक करोड़ रुपए का चेक साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिए दिया था। इसलिए यह कहना पड़ेगा कि कृष्णा सोबती के लेखकीय सरोकार अपने समकालीन लोगों से बिल्कुल अलग ढंग के रहे हैं। तथ्य पेश है। "...लेखक की छोटी दिखनी वाली हस्ती ने हमारे लोकतन्त्र का वृत्तान्त-आख्यान और संवाद बुनने में न कंजूसी और न ही भड़कीले संयम का सहारा लिया है। ...उपन्यासों, कहानियों और अन्य विधाओं में हिन्दी लेखन ने एक दूर तक भेदती नज़र से स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद के सामाजिक और राजनीतिक परिदृश्य को देखा है। ...विश्लेषण किया है। ...अंकित किया है। सामाजिक परिवर्तनों के विविध आयामों को प्रस्तुत किया है। उसने कस्बों, महानगरों से लेकर दूर-दूराज़ के देहात को, देहात की हलचल को, अपनी खोज की सम्भावनाओं से सक्रिय रखा है। लोकतन्त्र की खूबियों और कमज़ोरियों, जन की मनोदैहिक और मनोवैज्ञानिक संवेदना को उनकी महत्वाकांक्षाओं के समानान्तर एक लम्बे कालखंड का आकलन किया है।" कृष्णा सोबती की साहित्य और समाज के मुद्दों पर मुखर उपस्थिति रही है। वह हमारे सामने एक मिशाल के रूप में है।

आम तौर से इस तर्क से सहमत होना थोड़ा कठिन लगता है कि साहित्य की सीमाएं कानून के हद से बड़ी हैं। ऐसा हम सबके साथ इसलिए होता है क्योंकि हमारे दिल-दिमाग में भारत के संविधान की सर्वोच्चता की धारणा बैठाई गई है। यह आदर्श कमोबेश नागरिकों में मौजूद है। लेकिन संविधान की सर्वोच्चता की बात करते हुए नीति निर्माता अपने जीवन-व्यापार में संविधान की सर्वोच्चता का मान नहीं रखते। हमारे देश की राजनीति बीते दशकों से ऐसे ही ढंग से की जा रही है। कहने को लेखकों को बड़े-बड़े सम्मान दिए जाते हैं और वहीं कुछ लेखकों को उनके विचारों के लिए सत्ता समर्थित संगठनों द्वारा मार दिया जाता है। हिंसा की भावना समाज में गहरे स्तर पर बैठाई जा रही है। लोगों के सोचने-समझने के तरीके को नियंत्रित किया जा रहा है। ह्यूमन राइट्स वाच 2018 की रिपोर्ट इसकी पुष्टि करती है। दुनिया में भारत की जो छवि थी उससे विपरीत गढ़ी जा रही है। कहां भारत को बुद्ध और गांधी के देश के रूप में जाना जाता था। कहां अब समाज में अल्पसंख्यक समुदायों के प्रति हिंसा, बलात्कार की घटनाओं में हर साल इज़ाफा हो रहा है और समाज के बौद्धिक वर्ग को सच बोलने-लिखने से रोका भी जा रहा है। कभी-कभी ऐसे भी कहा जाता है कि आपको यदि इस मुल्क में ज्यादा दिक्कत है तो मुल्क छोड़कर चले जाओ। कहीं किसी आदिवासी के ऊपर राजनीतिक लोग पेशाब करते हैं तो कहीं गांधी के पोस्टर पर गोली मारी जा रही है। यह घटना 30 जनवरी 2019 को अलीगढ़ में घटित हुई थी। ऐसे और भी कृत्य इस दौर में देखने को मिल रहे हैं। जहां तक साहित्य की बात है तो साहित्य

समाज में जो कुछ नहीं है या जिसकी समाज में कमी है उस पर उंगली रखकर हमें सचेत करता है। इस भूमिका को साहित्य के किसी भी दौर में देखा जा सकता है। साहित्य में बहुत सी उन बातों को प्रोपोगेट किया जाता है जो संविधान में भले ही स्वीकृत न हों लेकिन साहित्य में स्वीकृत हैं। आसान भाषा में समझिए, जैसे विभाजन को दोनों मुल्कों की राजनीति करने वालों ने और संविधान निर्माताओं ने स्वीकार कर लिया, लेकिन साहित्य इस विभाजन को स्वीकार नहीं करता। कृष्णा सोबती की एक कविता है 'बांट बंटवारा' इस स्वर को मुखर करती है।

'हम में बहुतों ने कभी न कभी ज़रूर देखे होंगे
खेत बंटते
मुंडेर बंटते
पुराने दरवाजे बंद होते
नए रास्ते बनते
चूल्हे अलग होते
फिर अपने अपने चूल्हे की आग पर
अपनी अपनी हंडिया चढ़ते
पर तब तक नहीं देखा था-किसी मुल्क को बंटते।
वह बंटा
यह हम हैं
वह तुम हो
हम तुम नहीं हो
तुम हम नहीं हो
फिर कैसे एक साथ!
कैसे रहेंगे हम एक साथ
नहीं, नहीं-बिल्कुल नहीं
कतई नहीं।
सदियों सदियों पुराना यह सिलसिला अब टूटता है
एक दूसरे को सहन करने का माद्दा फूटता है। ....'

उस दौर के उर्दू-हिंदी, पंजाबी के साहित्य को यदि पढ़ें तो इस विचार को गहराई से महसूस किया जा सकता है। एक साक्षात्कार में कथाकार विभूति नारायण राय कहते हैं यदि दोनों मुल्कों की सीमाएं खोल दी जाएं तो हालात दूसरे दिखाई देंगे। उन्होंने पाकिस्तान की पांच यात्राएं की हैं। इन यात्राओं को 'फेंस के उस पार' में दर्ज किया है। उनका कहना है कि दोनों मुल्कों के लोग आना-जाना चाहते हैं। कुछ तत्व जरूर हैं जो दोनों तरफ हैं, लेकिन बहुसंख्यक जनता इसके विरोध में है। दोनों तरफ की सत्ता इसके पक्ष में कभी नहीं होगी कि मुल्क की सीमाएं खोल दी जाएं क्योंकि इससे उनकी राजनीति हमेशा के लिए समाप्त हो जायेगी।

आज चारों तरफ विकास की कहानी जिस ढंग से बुनी जा रही है उसमें प्रकृति का भयानक 'शोषण हो रहा है। नदियां सूख रही हैं। पहाड़ों को डायनामाइट से उड़ाया जा रहा है। आदिवासियों को जंगल से हटाने के लिए अघोषित युद्ध छिड़ा हुआ है। इन सबको विकास का नाम दिया गया है। अब ऐसे में साहित्य आपको दूसरे ढंग से सोचने की तरफ प्रवृत्त करता है। साहित्य में सह अस्तित्व के साथ सुन्दर जीवन की कल्पना की गई है। प्रकृति का विनाश, आदिवासियों का विस्थापन, विरोध करने वालों को देश निकाला देने की धारणा के खिलाफ लेखक रहता है और आज भी है। पिछले दशकों में देश की जनता को कितनी आपदाओं को झेलना पड़ा है। कितने लोगों को अपनी ज़िंदगियां गंवानी पड़ी हैं। क्या हमारे चिंतन में यह सब नहीं होना चाहिए। क्या जंगलों को काटना, कई-कई लेन की चौड़ी सड़कें बनाना ही हमारे आधुनिक होने का मायने शेष रह गया है? या फिर कुछ और भी बचा है। साहित्य इसी कुछ के बचे होने या बचाने की वकालत करता है। कृष्णा सोबती के लिए साहित्य की यही भूमिका है। इस दौर के किसी भी विधा के साहित्य को आप यदि पढ़ें तो जन्नत की हक़ीकत सामने आ जायेगी। कथा साहित्य में देखें तो काशीनाथ सिंह 'रेहन पर रग्घू', वीरेन्द्र जैन 'डूब', संजीव 'फांस', पंकज सुबीर 'अकाल में उत्सव' आदि कृतियां वर्तमान समय का सच बयान करती हैं।

कृष्णा सोबती अपने समकालीन लेखकों, कवियों का भी 'शब्दों के आलोक में' किताब में मूल्यांकन करती हैं। कुछ रचनाकारों के प्रति श्रद्धा का भाव भी है। सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, कवि त्रिलोचन, फिराक गोरखपुरी, शेखर पाठक आदि ऐसे बहुत से लोगों के बारे में शिद्दत से लिखती हैं। कवि त्रिलोचन के बारे में एक कविता लिखती हैं तो अमृतलाल नागर को लेकर चुटीले ढंग से विचार करती हैं। निराला के बारे में वह 15/16 सितंबर 1938 को शिमला में आयोजित हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन के बहाने लिखती हैं। सोबती जी की टोली को सूचना मिली थी कि लेखकगण सुबह सैर के लिए माल रोड से निकलेंगे। लेखकों को देखने हेतु कृष्णा सोबती अपनी बाल मण्डली के साथ माल रोड के पास की एक जगह पर जाकर खड़ी हो गयीं। वाक्या कृष्णा सोबती की जुबानी पेश है-'...उस वक्त हमारी टोली अपने लेखकों और कवियों के नाम से वाक़िफ़ थी। बड़ा रौब था हम पर उन दिनों अदीबों का। स्कैंडल प्वांइट की ओर से खरामा-खरामा टहलते हुए शिमला के खास मेहमान इधर बढ़े चले आ रहे हैं। वे सब जिन पोशाकों में थे, वह आम तौर पर माल रोड पर दिखाई नहीं देती थीं। हमारे दिलों में क्या जज्बा था! सरकारी समाज के बच्चे होने के बावजूद इस बात का तीखा अहसास था कि ये सब लोग हमारे हैं, अंग्रेज सरकार के नहीं। जो ऊँचे-लम्बे-भारी, सिर उठाए चले आ रहे थे, वह निराला थे। सचमुच में निराला। चाल में कुछ बात थी। साहिबान, उन दिनों माल रोड हिन्दुस्तानियों की नहीं-उनके आक़ाओं की थी। साधारणतया आप मामूली बेढंगे कपड़ों में माल रोड पर नहीं घूम सकते थे। बस, मनाही थी। निराला चलते हुए यूँ निकले ज्यों शिमला अंग्रेजों का न हो, निराला के बाप का हो। ...' कृष्णा सोबती में वर्णन की अद्भुत 'शैली है। आंखों के सामने पूरा दृश्य मूर्तिमान हो जाता है। वहीं कवि त्रिलोचन का कविता में क्या खूब चित्रण किया है।

'न विराट पुरुष
न इतिहास पुरुष
न सितारा-ए-हिन्द

न क्रान्ति पुरुष
न विशाल पुरुष
ये विशेषण तो उन लोगों के लिए हैं,
जो भूमण्डलीय संस्कृति की बाज़ार चेतना को
अन्तर्राष्ट्रीय विज्ञापनी मुहावरे को
शब्दों की गहराई में करते हैं
और अध्यात्म की मुद्रा में उसका कलात्मक प्रचार करते हैं
मनुष्य जो अति पुरातन है
मनुष्य जो अति आधुनिक है-इन्हे अपने से जोड़ता है।
मेरी भाषा का विशिष्ट कवि त्रिलोचन जाने अपने दाएं-बाएं
कौन-कौन सी दिशाओं में क्या-क्या ढूँढ़ता है। ...'

यहां कविता की कुछ पंक्तियां ही उद्धृत हैं। यदि पूरी कविता आप पढ़ें तो त्रिलोचन के व्यक्तित्व की छवि उभर आती है। वहीं धर्मवीर भारती के बारे में जिस ढंग से विचार करती हैं उसमें गहरी आलोचनात्मक दृष्टि दिखाई पड़ती है। आम तौर पर साहित्य में माना जाता है कि धर्मवीर भारती ने 'धर्मयुग' के माध्यम से साहित्यिक पत्रकारिता का एक मानक स्थापित किया। लेकिन कृष्णा सोबती की दृष्टि में इससे अलग मूल्यांकन है। वह धर्मवीर भारती को अज्ञेय की अगली पांत में देख रही थीं, जब वह इलाहाबाद में रहते हुए 'निकष' का सम्पादन कर रहे थे, जिसमें सोबती की लम्बी कहानी 'डार से बिछुड़ी' छपी थी। धर्मवीर भारती का इलाहाबाद से मुंबई जाना कृष्णा सोबती की नज़र में बाकियों से कुछ भिन्न था। '...कुछ घटनाएं-कुछ फैसले लेखक के जीवन को भी अजीब मोड़ दे सकते हैं। भारती का इलाहाबाद छोड़ना और बम्बई की ओर प्रस्थान-कुछ ऐसा ही होकर उभरा। विपरीत दिशाओं से लेखक और सम्पादक के बीच की होड़ ने भारती पर एक साथ दो अंकुश और आतंक खड़े कर दिए। जो गुणा थी, वह भाग हो गई और जो विभाजित हुआ, वह गुणा दीखने लगा। भारती 'धर्मयुग' के सम्पादक न होते तो लेखक के रूप में बहुत कुछ संजोते। ...' कृष्णा सोबती के लेखन में आपको बहुत लाग-लपेट नहीं मिलेगा। जो बात है वह एकदम खरी। यही खरापन उनके जीवन में देखने को मिलता है। जीवन जीने का अपना बेलौस अंदाज है। दोस्ती-दुश्मनी दोनों खरेपन के साथ निभाई। कृष्णा सोबती और अमृता प्रीतम के बीच इसी तरह की कई दशकों तक लंबी कानूनी लड़ाई सिर्फ रचना के 'शीर्षक को चली थी। साल 1979 में कृष्णा सोबती का 'जिन्दगीनामा' उपन्यास प्रकाषित हुआ। 1980 में इस पर उन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला। वहीं 1983 में अमृता प्रीतम का 'हरदत्त का जिन्दगीनामा' उपन्यास प्रकाशित हुआ। हालांकि इसमें कृष्णा सोबती को काफी कुछ खोना पड़ा। साहित्य में इस तरह का यह पहला मामला था।

इसी तरह कृष्णा सोबती जब अपने समकालीन दूसरे लेखकों के बारे में लिखती हैं तो भी उनकी आलोचनात्मक दृष्टि बहुत साफ तौर से उभरती है। वह चाहे भीष्म साहनी हों, शेखर पाठक हों, जयदेव

हों या फिर कोई और। इसी तरह जब शहरों के बारे में लिखती हैं या अपने गरारों के बारे में लिखती हैं तो छोटे-छोटे डिटेल दर्ज करती चलती हैं। मसलन कौन सा गरारा कब खरीदा, कहां से खरीदा, पहनने पर धज कैसी लगती है आदि। 'शब्दों के आलोक में' किताब पढ़ते हुए आप एक नए ढंग का गद्य पढ़ने के अनुभव से गुजरते हैं। विचारों की गहराई से वाकिफ होते हैं और अपने समय-समाज के सवालों को लेकर हम अपनी भूमिका से भी परिचित होते हैं।

हिंदी विभाग, गोवा विश्वविद्यालय, पणजी, गोवा-403206,
मो. 9130570121, 9284033680